अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका
Peer Reviewed Refereed शोध पत्रिका

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

न्यायिक सक्रियता के आयाम
(Dimensions of Judicial Activism)

जितेन्द्र भारती, शोधार्थी
राजनीति विज्ञान विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

सारांश (Abstract)

न्यायिक सक्रियता बहुत ही व्यापक और बहुआयामी अवधारणा है। यह अवधारणा न्यायालय अथवा न्यायाधीशों की सक्रिय स्वरूप को उजागर करती है। लोकतंत्र में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका की अपेक्षा की जाती है। लोकतंत्र में विधायिका और कार्यपालिका की अपेक्षा न्यायालय द्वारा जनहित के प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्वों को कर्मठता, तत्परता और सक्रियता से निर्वहन करना न्यायिक सक्रियता का द्योतक है। यदि विधायिका और कार्यपालिका जनहित के प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्वों से विमुख जाए और उनकी भूमिका गौण हों तो ऐसे में न्यायालय को स्वतः आगे आना होता है ताकि विधि का शासन कायम रहे, मूल अधिकारों का अतिक्रमण न हो, अराजकता और भ्रष्टाचार का बोलबाला न हो। इस संदर्भ में न्यायालय जनहित के प्रति विधायिका और कार्यपालिका के कर्तव्यों एवं दायित्वों को सुनिश्चित करता है क्योंकि लोकतंत्र में जनहित की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

कुंजी शब्द– लोकतंत्र, न्यायालय, विधि का शासन, भ्रष्टाचार, अराजकता, जनहित।

विषय प्रवेश (Introduction) :– लोकतंत्र में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका अपरिहार्य है।[1] लोकतंत्र की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि न्यायपालिका की भूमिका सक्रिय हो तथा उसके निर्णय स्वतंत्र, निष्पक्ष, समान एवं दबाव रहित हों।[2] विश्व के लोकतांत्रिक देशों भारत, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और स्विटजरलैंड में न्यायपालिका को जिस प्रकार की संवैधानिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं वहाँ पर न्यायपालिका की भूमिका उसी प्रकार अपेक्षित है। अमेरिका की न्यायिक व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय और भारत की न्यायिक व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) की संवैधानिक शक्ति देकर भिन्न स्थिति प्रदान की गई है।[3] ऐसे में यह अपेक्षा की जाती है कि लोकतंत्र में जनहित के प्रति अपने कर्त्तव्यों के निवर्हन में न्यायालय की भूमिका सक्रिय, कर्मठ, संवेदनशील और रचनात्मक हों।[4] यदि विधायिका एवं कार्यपालिका जनहित के प्रति अपने दायित्वों एवं कर्त्तव्यों से विमुख हो जाएं और देश में विधि व्यवस्था शून्य हो जाए तथा अराजकता का ताण्डव होने लगे तो ऐसी परिस्थितियों में न्यायालय ही आगे बढ़कर देश का बागडोर संभालने लगता है।[5] इसे न्यायिक सक्रियता का परिचायक माना जाता है।

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

न्यायिक सक्रियता का आशय एवं परिभाषा :– न्यायिक सक्रियता का आशय है– नागरिकों के अधिकारों के संरक्षण एवं समाज में न्याय को बढ़ावा देने हेतु न्यायालय द्वारा बढ़–चढ़ कर भूमिका निभाना।[6] इसमें न्यायालय, विधायिका एवं कार्यपालिका को अपने कर्त्तव्यों के निवर्हन हेतु बाध्य करता है। ध्यान देने की बात यह है कि न्यायिक सक्रियता का विषय क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि इसकी कोई संक्षिप्त परिभाषा नही दी जा सकती है। संविधान विशेषज्ञों, कानून विशेषज्ञों तथा बुद्धिजीवियों ने न्यायिक सक्रियता की परिभाषा भिन्न–भिन्न प्रकार से दी है। न्यायमूर्ति **ए. एम. अहमदी** ने लिखा है कि, "न्यायिक सक्रियता लोकतंत्र एवं विधि के शासन के लिए आवश्यक है। यह कार्य न्यायाधीशों द्वारा सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए की जाती है।"[7] **प्रोफेसर मेहराजउद्दीन मोर** ने लिखा है कि, "न्यायिक सक्रियता न्यायाधीशों का एक हथियार है जो कि सरकारी अधिकारियों को अपने पैरों की उंगलियों पर नचाने और मामलों को सही एवं कर्त्तव्यपूर्ण तरीके से प्रवर्तन करने के हेतु दिशा निर्देश देते हैं।"[8] **न्यायमूर्ति जे.एस. वर्मा** ने लिखा है कि, "न्यायिक सक्रियता लोकतंत्र के संरक्षण एवं विधि के शासन के क्रियान्वयन हेतु न्यायाधीशों द्वारा उठाया गया निर्णायक कदम है।"[9] **विधिवेत्ता एस. पी. साठे** ने लिखा है कि, "न्यायिक सक्रियता एक न्यायिक दृष्टिकोण है जो विधायिका एवं कार्यपालिका को अपने कर्त्तयों के निर्वहन में नये मार्ग प्रशस्त करते है।"[10] **उपेन्द्र बक्शी** ने लिखा है कि, "न्यायिक सक्रियता मानवाधिकारों के क्षेत्र में क्रांति लाने और सार्वजनिक कर्त्तव्यों के निर्वहन में सरकार को दिशा निर्देश देने का कार्य है।"[11] इस प्रकार न्यायिक सक्रियता की परिभाषा अलग–अलग दी गई है। इसके विषय क्षेत्र में विधि का शासन, लोकतंत्र, मानवाधिकार, प्रशासन, लोकनीति, जनहित याचिकाएँ, भ्रष्टाचार, पर्यावरण संरक्षण, लैंगिक उत्पीड़न आदि शामिल हैं। दूसरे शब्दों में, जनहित के मामले ही न्यायिक सक्रियता के आधार है ।

न्यायिक सक्रियता की उपयोगिकता एवं महत्व – प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों के संरक्षण हेतु अंतिम रूप में न्यायालय का शरण लेता है। ऐसे में न्यायालय को पीड़ित व्यक्ति के अधिकारों के संरक्षण एवं न्याय प्रदान करने हेतु आगे आना होता है। न्यायाधीश बदलते समय के साथ–साथ समाज, राज्य एवं देश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार हेतु महत्वपूर्ण भूमिका निभा कर उसे जनहित के अनुकूल बनाते हैं।[12]

न्यायिक संयम और न्यायिक अतिरेक (Judicial Restraint and Judicial Overreach) – न्यायालय संवैधानिक सीमाओं के भीतर अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करता है तो इसे न्यायिक संयम कहा जाता है।[13] लेकिन इसके विपरीत यदि न्यायालय अपनी संवैधानिक सीमाओं को लांघकर अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करता है और मनमाने तरीके से विधायिका और कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करता है तो इसे न्यायिक अतिरेक कहा जाता है।[14] यह लोकतंत्र के लिए खतरा हो सकता है। अतः न्यायालय

को अपनी सीमाओं में रहते हुए अपनी शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि सरकार को जनादेश (Mandet) प्राप्त होता है लेकिन यह न्यायपालिका को प्राप्त नही होता है।

न्यायिक सक्रियता की अवधारणा का विकास :– न्यायिक सक्रियता की अवधारणा का विकास का स्पष्ट संकेत अमेरिकी राजनैतिक प्रणाली में मिलता है। वर्ष 1947 में अमेरिकी इतिहासकार आर्थर स्लेसिंगर जुनियर ने फार्च्यून पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख The Supreme Court–1947 शीर्षक में 'न्यायिक सक्रियता' शब्द का पहली बार प्रयोग किया था।[15] इसका सरोकार न्यायाधीशों के कार्यों को वर्गीकृत करने से था। दूसरे शब्दों में न्यायिक सक्रियता एक न्यायिक दृष्टिकोण है जो समय–समय पर न्यायाधीशों द्वारा प्रतिपादित किया जाता है । न्यायिक सक्रियता की अवधारणा का अध्ययन न्यायाधीशों के दृष्टिकोणों, सिद्धांतो और निर्णयों में किया जा सकता है। इसका स्पष्ट उदाहरण अमेरिका में **मारबरी बनाम मेडिसन मामले (1803)** में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को लिया जा सकता है। इस मामले का मूल तथ्य यह था कि वर्ष 1801 ई० में राष्ट्रपति एड्म्स ने मारबरी नामक व्यक्ति को कोलम्बिया जिला का दण्डाधिकारी नियुक्त किया था। लेकिन राष्ट्रपति की कार्यकाल की समाप्ति होने पर मारबरी को नियुक्ति पत्र प्रेषित नहीं किया गया। इसके उपरांत जैफर्सन अमेरिका के राष्ट्रपति बने तो उनके न्यायमंत्री मेडिसन ने मारबरी को नियुक्ति पत्र प्रेषित करने से इनकार किया। इस मामले को मारबरी ने सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दिया और परमादेश (Mandmas) रिट जारी करने का आग्रह किया। न्यायाधीश जॉन मार्शल ने मामले की सुनवाई की और निर्णय दिया कि न्यायपालिका अधिनियम 1789 की धारा 13 के तहत् परमादेश रिट जारी नहीं किया जा सकता है। लेकिन मारबरी को नियुक्ति पत्र दिया जाना चाहिए क्योंकि संविधान सर्वोच्च है। संविधान शासन की शक्तियों को निश्चित एवं मर्यादित करता है। संविधान सर्वोच्च विधि है और यह संसद द्वारा पारित विधियों से श्रेष्ठ है। संविधान के विपरीत बनाई गई कोई भी विधि असंवैधानिक है। इस प्रकार न्यायाधीश ने न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति का प्रयोग किया था।[16]

अमेरिका में लोकतांत्रिक, अध्यक्षीय एवं संघीय शासन है। यहाँ सर्वोच्च न्यायालय इतना शक्ति सम्पन्न है कि इसके निर्णय संविधान की लकीर बन जाती है। अमेरिकी **न्यायाधीश हूज** ने कहा था कि, "हम सभी संविधान के अधीन हैं। संविधान वही है जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कहते हैं।"[17] अमेरिका के संविधान में मॉन्टेस्क्यु के 'शक्ति पृथ्थकरण के सिद्धांत' के प्रभाव है।[18] शासन के तीनों अंग विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के बीच शासन की शक्तियों का विभाजन, नियंत्रण एवं संतुलन बनाए रखने का कार्य किया गया है लेकिन इसमें न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के तहत् सर्वोच्च न्यायालय विधायिका एवं कार्यपालिका के कार्यों की संवैधानिक परख करता है । यदि यह कार्य संविधान सम्मत नही है तो इसे असंवैधानिक घोषित कर देता है। ऐसे में अमेरिका में न्यायिक सर्वोच्चता परिलक्षित होती है। एक मामले **ब्राउन बनाम शिक्षा बोर्ड** में अमेरिकी सरकार द्वारा गोरे एवं काले (निग्रो) के बीच

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

नकारात्मक भेदभाव के तहत अलग–अलग विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था को सर्वोच्च न्यायालय ने खारिज किया और इसे असंवैधानिक बताया था। इस प्रकार अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने का कार्य करता है।

ब्रिटेन को विश्व की संसदीय जनतंत्र की जननी कहा जाता है। यहाँ एकात्मक एवं संसदीय राजतंत्र है। ब्रिटेन में लोकतंत्र, विधि का शासन एवं संसदीय संप्रभुता प्रचलित है। ब्रिटिश सम्राट अपने कार्यो के लिए उत्तरदायी नही है।[19] इसीलिए एक कहावत है कि, "ब्रिटिश सम्राट कोई गलती नही कर सकता।"[20] इसके अलावे ब्रिटिश संसद सर्वोच्च है। **ब्लैकस्टोन** ने लिखा है कि, "ब्रिटिश संसद स्त्री को पुरूष और पुरूष को स्त्री बनाने के सिवाय कुछ भी कर सकती है।[21] इसके द्वारा बनाए गए किसी भी कानून को किसी भी न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकती है। क्योंकि ब्रिटिश न्यायालयों को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त नहीं है। ब्रिटेन में प्रत्येक व्यक्ति, संसद एवं सरकार विधि के शासन के अधीन है। संसदीय सर्वोच्चता होने के कारण ब्रिटेन में न्यायिक सक्रियता का विकास नहीं हो पाया है।

ब्रिटेन की भांति फ्रांस में भी एकात्मक एवं संसदीय शासन है।[22] फ्रांस के राष्ट्रपति काफी शक्तिशाली होते हैं। लेकिन फ्रांस की संसद राष्ट्रीय सभा (National Assembly) ब्रिटिश शासन के भांति सम्प्रभु नहीं है। फ्रांस की न्यायिक संरचना में दो तरह के न्यायालय है– सामान्य न्यायालय और प्रशासनिक न्यायालय। सामान्य न्यायालय में सुधारात्मक न्यायालय, जिला न्यायालय और प्रांतीय न्यायालय है। फ्रांस में तीन तरह की न्यायिक संस्थाएँ है– न्यायाधीशों की सर्वोच्च परिषद, न्याय का उच्च न्यायालय और संवैधानिक परिषद।[23] फ्रांस में शक्तियों का पृथकरण में विश्वास नहीं किया गया है और न्यायिक पुनरावलोकन का अभाव है। फ्रांस में मानवाधिकार संरक्षण के लिए बंदी प्रत्यक्षीकरण एक मात्र रिट है। फ्रांस के संवैधानिक परिषद को किसी विधान की संवैधानिकता निर्धारण करने का अधिकार है लेकिन यह कार्य विधि के प्रसार के पूर्व और प्रख्यापन के बाद किया जा सकता है। संवैधानिक परिषद राष्ट्रीय सभा और सिनेट द्वारा पारित विधि को अमान्य नही कर सकती है। इस प्रकार न्यायिक पुनरावलोकन के अभाव के कारण फ्रांस में भी न्यायिक सक्रियता के अवधारणा का विकास नही हो पाया है।

स्विटजरलैण्ड में संघीय शासन एवं प्रत्यक्ष लोकतंत्र है। स्विटजरलैण्ड को 'प्रत्यक्ष लोकतंत्र का घर' कहा जाता है।[24] यहाँ लिखित एवं कठोर संविधान है। यहाँ संघीय संसद को बहुल कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के अपेक्षा अधिक संवैधानिक शक्तियाँ प्राप्त है। चुंकि स्विटजरलैण्ड की संघीय न्यायालय संविधान का संरक्षक है। इसे केवल आंशिक रूप में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त है। जिसके तहत् न्यायालय कैन्टनों के विषय की न्यायिक समीक्षा कर सकता है न कि संघीय संसद की । इस प्रकार संघीय संसद सर्वोच्च है, लेकिन ब्रिटिश संसद की भांति सर्वोच्च नही है । परिणामस्वरूप स्विटजरलैण्ड में भी न्यायिक सक्रियता की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया है।

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। यहाँ एकीकृत न्यायपालिका है।[25] अर्थात् यहाँ न्यायालयों की एक क्रमिक संरचना है। भारत में शीर्ष स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय, राज्यों में उच्च न्यायालय एवं खण्डपीठ एवं जिला स्तर पर अधीनस्थ न्यायालय स्थापित हैं। इसमें सर्वोच्च न्यायालय हैं. विदित हो कि राज्य सरकार के पास केंद्र सरकार की कल्याणकारी योजनाओं और स्वयं लाभ के उद्देश्य से शुरू और लागू का गया 'अधिकांश उत्तरदाताओं द्वारा केंद्र सरकार की योजनाओं को शुरू करने का श्रेय केंद्र सरकार और उच्च न्यायालय को विशिष्ट रूप से संवैधानिक शक्तियाँ प्रदान की गई है। जैसे– न्यायिक आदेश (Writ) जारी करने, न्यायिक पुनरावलोकन और संविधान की व्याख्या करने (केवल सर्वोच्च न्यायालय को) और जनहित याचिकाओं की सुनवाई करने की शक्ति आदि। न्यायालय अथवा न्यायाधीशों को अपने कार्यों के निर्वहन में उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं।[26] इनके कार्य क्षेत्र अथवा क्षेत्राधिकार काफी विस्तृत है। चूंकि भारत में उच्च न्यायालयों एवं सर्वोच्च न्यायालय की सक्रिय भूमिका अलग–अलग रही है। इसका संक्षिप्त वर्णन नही किया जा सकता है। यहाँ पर केवल सर्वोच्च न्यायालय की सक्रियता का विश्लेषण करना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वोच्च न्यायालय के अस्तित्व में आने (28 जनवरी, 1950) के उपरांत से ही न्यायिक सक्रियता की अवधारणा का अध्ययन किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक मामलों में ऐतिहासिक निर्णय देकर अपनी सक्रिय भूमिका प्रकट की है।

प्रारंभ में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका में सैद्धांतिक एवं रूढ़िवादी तत्वों को देखा गया है। न्यायालय इस बात पर बल दिया करता था कि इसका कार्य केवल न्यायिक निर्णय एवं संविधान की व्याख्या करना है। न्यायालय पर तत्कालीन राष्ट्रवादी नेताओं के प्रभाव होने के कारण न्यायालय किसी भी मामले में इनके विरूद्ध निर्णय देने से संकोच किया करता था।[27] प्रारंभ में संसदीय प्रभुता कायम रही जिसका उदाहरण सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में देखा जा सकता है लेकिन समय के साथ विभिन्न मामलों में न्यायिक निर्णयों से सरकार और न्यायालय के बीच संघर्ष हुए हैं। सर्वोच्च न्यायालय की सक्रियता का अध्ययन कई महत्वपूर्ण मामलों में किया जा सकता है।

(1) प्रेस की स्वतंत्रता और न्यायिक निर्णय – संविधान के अनुच्छेद 19(1) में वाक एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में ही प्रेस (समाचार पत्र) की स्वतंत्रता निहित है। प्रेस या मीडिया को लोकतंत्र का चौथा आधार स्तंभ माना जाता है। इस संदर्भ में **सकल समाचार पत्र प्राइवेट लिमिटेड बनाम भारत संघ मामले**[28] में तत्कालीन कांग्रेस सरकार द्वारा प्रेस पर सेंसरशिप लगाने और वाक एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करने के मामले को चुनौती दी गई थी। पंडित नेहरू का मानना था कि समाचार पत्रों की पृष्ठों की संख्या एवं मूल्यों का निर्धारण होना चाहिए। इससे छोटे–छोटे समाचार पत्रों को उदय होने का अवसर मिलेगा लेकिन सरकार यह कथन समाचार अधिकरणों की स्वायतता में हस्तक्षेप था जिसे न्यायालय ने अनुचित बताया। न्यायालय का कहना था कि संविधान के अनुच्छेद 19(2) में निहित प्रतिबंधों जैसे लोक

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

व्यवस्था, विदेश संबंध, प्रतिरक्षा, न्यायालय की अवमानना, मानहानि आदि के आधार पर वाक एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित किया जा सकता है।

(2.) समानता का उचित वर्गीकरण और न्यायिक निर्णय – संविधान के अनुच्छेद 14 से 18 में प्रत्येक व्यक्ति को समानता का अधिकार प्रदान किया गया है। लेकिन सरकार उसमें सकारात्मक भेदभाव कर सकती है। जैसे– समाज के वंचित, दलित, महिला, पिछड़े एवं कमजोर वर्ग को समाज में बराबरी क हक दिलाना। इस संदर्भ में **एम.आर. बालाजी बनाम मसूर राज्य मामले**[29] में न्यायालय ने निर्णय दिया था कि आर्थिक पिछड़ापन, सामाजिक पिछड़ेपन का मूल कारण है। जाति को वर्ग से अलग करके यर्थाथ जातिगत वर्गीकरण को दरकिनार करके 'जाति' शब्द का इस्तेमाल पिछड़ेपन के लिए नहीं किया जाना चाहिए। आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत अधिक नही होनी चाहिए। इसी प्रकार **इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ मामले**[30] में न्यायालय ने पिछडेपन को शामिल किया था और कहा था कि आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। प्रतिपुरक भेदभाव का उद्देश्य सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों का विकास करना है लेकिन पिछड़े वर्गों की सुरक्षात्मक भेदभाव समाज के अन्य समुदायों की वैध अधिकारों की कीमतों पर नहीं होनी चाहिए।

(3.) वैयक्तिक स्वतंत्रता और न्यायिक निर्णय – संविधान के अनुच्छेद 21 में प्रत्येक व्यक्ति को प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार दिए गए है। इसे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Due Process of Law) के सिवाय किसी व्यक्ति को निजी स्वतंत्रता से वंचित नही किया जा सकता है। ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य मामले[31] में सर्वोच्च न्यायालय ने वैयक्तिक स्वतंत्रता का विवेचन किया गया था। ए. के गोपालन मामले का मूल तथ्य यह था कि साम्यवादी नेता ए. के. गोपालन को निवारक निरोध अधिनियम 1950 के तहत बंदी बनाया गया था और इसे सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई थी। न्यायालय ने अपने निर्णय में अनुच्छेद 19 एवं 21 में अंतर बताते हुए कहा था कि अनुच्छेद 19 में निहित स्वतंत्रता का संबंध उसके आंशिक नुकसान से है लेकिन अनुच्छेद 21 में निहित स्वतंत्रता का संबंध पूर्ण नुकसान से है। चूंकि यह निर्णय विराधाभासपूर्ण था जिसे आगे चलकर न्यायालय ने सुधार किया। **खड़ग सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[31] मामले में सर्वोच्च न्यायाल ने निर्णय दिया था कि अनुच्छेद 21 में वैयक्तिक स्वतंत्रता में केवल शारीरिक संयम या केवल एक व्यक्ति के लिए सीमित नही है अपितु यह स्वतंत्रता किसी भी व्यक्ति को पशु समान स्थिति से बेहतर जीवन जीने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।

(4.) कार्यपालिका की मनमानी शक्तियों की समीक्षा और न्यायिक निर्णय – भारत के राष्ट्रपति को तीन प्रकार की आपातकालीन शक्तियाँ प्राप्त है– **बाह्य आक्रमण (अनुच्छेद 352), राज्यों में संवैधानिक तंत्री विफलता (अनुच्छेद 356) और वित्तीय संकट (अनुच्छेद 360)** के आधार पर आपात की उदघोषणा करना।[32] लेकिन इसकी सीमाएँ यह है कि ये उद्घोषणाएँ दुर्भावना से प्रेरित नही होना चाहिए

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

अन्यथा इसकी भी न्यायिक समीक्षा की जा सकती है। **मक्खन सिंह तारसिका बनाम पंजाब राज्य मामले**[33] में राष्ट्रपति के आपातकालीन आदेशों की बैद्धता को चुनौती दी गई थी। न्यायालय ने निर्णय दिया था कि चूंकि अनुच्छेद 362 के तहत घोषित आपातकाल में अनुच्छेद 359 (1) के तहत् अनुच्छेद 19 में निहित स्वतंत्रताएँ निलंबित हो जाती है। लेकिन अनुच्छेद 21 में निहित व्यक्तिक स्वतंत्रता का निलंबन नही हो सकता है। **राजस्थान राज्य बनाम विद्यावती मामले**[34] में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि राज्य के संप्रभू एवं गैर संप्रभू कार्यो के बीच अंतर है। राष्ट्रपति अपने कार्यो के लिए उत्तरदायी है न कि ब्रिटिश सम्राट के भांति अनुतरदायी।

(5) निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन एवं न्यायिक निर्णय – संविधान के भाग 4 में अनच्छेद 36 से 51 में वर्णित निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन सरकार विधि निर्माण के तहत करती है। इसके लिए कभी–कभी सरकार ने मूल अधिकारों में संशोधन भी किया है। ऐसे में संसद की संविधान संशोधन विधि को चुनौती दी गई है। बिहार राज्य में कृषि सुधार से संबंधित **बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह मामले**[35] में सर्वोच्च न्यायाल ने निर्णय दिया था कि अनुच्छेद 38 एवं 39 में निहित परिकल्पित कृषि सुधार अनुच्छेद 14 से मेल नही खाती है। अतः सरकार द्वारा किए गए प्रथम संविधान संशोधन (1951) के तहत संविधान में शामिल की गई 9वीं अनुसूची वैध है । इस प्रकार मूल अधिकारों के अपेक्षा निदेशक तत्वों का महत्व बढ़ गया। बिहार भूमि सुधार अधिनियम (1930) को लोक प्रयोजन हेतु अनुच्छेद 39 के संदर्भ में उपयोगी माना गया है। संविधान 9वीं अनुसूची में शामिल विषय न्यायिक समीक्षा से परे रखा गया लेकिन केशवानन्द भारती मामले में बुनियादी ढाँचे के संबंध में सरकार के निर्मित विधियों को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

(6) संघवाद और न्यायिक निर्णय –सर्वोच्च न्यायालय ने संघवाद को बढ़ावा देने के लिए महत्वपूर्ण निर्णय दिए हैं। संविधान के अनुच्छेद 1 अनुसार भारत **'राज्यों का संघ'** है। किसी राज्य को भारतीय संघ से विलग होने का अधिकार नही है। न्यायालय संघीय संतुलन को बनाए रखने का कार्य कर सकता है। **पश्चिम बंगाल राज्य बनाम भारत संघ मामले**[36] में न्यायालय ने निर्णय दिया था कि संविधान संघीय अवधारणा को स्वीकार करता है। यह संवैधानिक संस्थाओं और संघ एवं राज्यों के बीच समन्वय स्थापित करता है। किसी राज्य को संविधान से परे संघ के साथ समन्वय बनाने एवं स्वतंत्र होने का अधिकार नही है। बेरूबाड़ी मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने भारत को **'नाशवान राज्यों का अविनाशी संघ'**[37] कहा था। इस प्रकार न्यायालय ने देश की संघीय ढाँचा को सुरक्षित रखने का प्रयास किया।

(7.) संविधान संशोधन और न्यायिक निर्णय – संविधान के अनुच्छेद 368 में संसद को संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है। लेकिन इसकी सीमाएँ केशवानन्द भारती मामले में निर्धारित की गई है। **शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ मामले**[38] में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि अनुच्छेद 13 (2)

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

के अंतर्गत परिभाषित विधि में संविधान संशोधन शामिल नहीं है। अतः संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है। इसी प्रकार के निर्णय सर्वोच्च न्यायालय ने **सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य मामले**[39] में दिया था। **एल. सी. गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य मामले**[40] में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि अनुच्छेद 13 (2) के अंतर्गत सभी प्रकार की विधियाँ शामिल है। सामान्य विधि एवं संविधान संशोधन विधि के तहत मूल अधिकारों में संशोधन नही किया जा सकता है। **केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य मामले**[41] में केरल भूमि सुधार अधिनियम 1969 को चुनौती दी गई थी। इसमें सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि संसद 'बुनियादी ढाँचे' (Basic Structure) के सिवाय संविधान के सभी भागों में संशोधन कर सकती है। इसमें 'बुनियादी ढाँचे के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया गया था। इसमें विधि का शासन, लोकतंत्र, गणतंत्रात्मक शासन, पंथ निरपेक्षता, न्यायिक पुनरावलोकन आदि विषयों को संविधान के आधारभूत या बुनियादी ढाँचे का विषय माना गया है।

ध्यान देने की बात यह है कि उपरोक्त मामलों में न्यायिक निर्णयों से तत्कालीन सतारूढ सरकारों और न्यायालय के बीच संघर्ष उत्पन्न होने लगा । तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने न्यायिक निर्णयों अप्रभावी बनाने के लिए कई संविधान संशोधन किए। **रोमेश थापर बनाम मद्रास राज्य मामले** में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को अप्रभावी बनाने के लिए पहला संविधानिक संशोधन किया गया। स्वतंत्रता, समानता और सम्पति के अधिकारों को लागू करने हेतु अनुच्छेद 15 (4) जोड़ा गया। अनुच्छेद 19(2) में स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबंध हेतु लोक व्यवस्था, विदेशी संबंध और अपराध उत्पीड़न को आधार माना गया। **पश्चिम बंगाल राज्य बनाम बेला बनर्जी मामले** में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध चौथे संविधान संशोधन किए गए। व्यक्तिगत संपति को लोकहित में राज्य द्वारा हस्तगत करने की प्रक्रिया को न्यायिक समीक्षा से बाहर रखा गया । **गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य** मामले में न्यायिक निर्णयों के विरूद्ध 24वाँ संविधान संशोधन किया गया। इसमें राष्ट्रपति को संविधान संशोधन विधि को स्वीकृति देने के लिए बाध्य किया गया। राष्ट्रपति के आपातकालीन शक्तियों को न्यायिक समीक्षा से बचाने हेतु 38वाँ संविधान संशोधन किया गया। इसमें अनुच्छेद 352 के तहत घोषित आपातकाल को न्यायिक समीक्षा से बाहर रखा गया। राष्ट्रपति एवं राज्यपाल तथा उप राज्यपाल के अध्यादेश को भी न्यायिक समीक्षा से दूर रखा गया। 39वाँ संविधान संशोधन के तहत राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, लोकसभा अध्यक्ष के निर्वाचन को भी न्यायालय में चुनौती देने से बाहर रखा गया। **केशवानन्द भारती मामले में न्यायिक निर्णय** कि विरुद्ध 42वाँ संविधान संशोधन किया गया। इसमें न्यायालय की न्यायिक समीक्षा के अधिकार छीन लिए गए। राष्ट्रपति को मंत्री परिषद की सलाह मानने को बाध्य किया गया। नीति निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों पर प्राथमिकता दी गई। लोकसभा एवं विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष से बढ़ाकर 6 वर्ष किया गया। इस प्रकार न्यायिक निर्णयों के विरुद्ध तत्कालीन कांग्रेस की सरकार अपने कार्यकारी आधिपत्य को बनाए रखने का प्रयास किया।[42]

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

(8) न्यायिक पुनरावलोकन और न्यायिक निर्णय –संविधान के अनुच्छेद 137 के तहत सर्वोच्च न्यायालय और अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति है। इसके तहत न्यायालय विधायिका एवं कार्यपालिका के कार्यों की संवैधानिक परख करती है। इनके कार्य संविधान सम्मत नही होने पर न्यायालय इसे खारिज कर देता है । संविधान के अनुच्छेद 13 (1), 13 (2) और 13(3), के तहत् सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की आधारभूत वैकल्पिक शक्ति प्रदान की गई है। अनुच्छेद 32 के तहत सर्वोच्च न्यायालय एवं अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय को रिट जारी की शक्ति है। सर्वोच्च न्यायालय ने अब तक 5 बार मूल रूप से न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग किया है। इसमें गोलकनाथ मामले (1967), केशवानन्द भारती मामले (1973), बैंको का राष्ट्रीयकरण के मामले (1970), प्रिवीपर्स उन्मूलन के मामले (1971) और मिनर्वा मिल्स मामले (1980) प्रचलित हैं। इसमें सर्वप्रथम बैंको के राष्ट्रीयकरण सम्पत्ति के अधिकार के विपरीत अनुच्छेद 39 पर आधारित था। यह समतावादी समाज के लिए उपयुक्त माना गया था। 19 जुलाई, 1968 को तत्कालीन केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस की सरकार ने बैंको के राष्ट्रीयकरण हेतु नीतिगत निर्णय लिया और राष्ट्रपति के द्वारा अध्यादेश जारी किया। इसे सर्वोच्च न्यायालय में **रूस्तम कावासजी कूपर बनाम भारत संघ मामले**[43] में चुनौती दी गई थी। न्यायालय ने अपने निर्णय में सरकारी बैंकों के अध्यक्ष को हटाने और बैंकिंग कंपनी अधिनियम 1968 के तहत निर्देश देने को रोकने वाले अंतरिम आदेश पारित किया। इसके बावजूद कांग्रेस की सरकार ने 4 अगस्त, 1969 को बैंको का राष्ट्रीयकरण हेतु अधिनियम पारित किया।

इसी प्रकार देशी रियासतों के भारत में विलय के समय राजाओं को 'प्रिविपर्स' का लाभ देने की व्यवस्था की गई थी। 'प्रिविपर्स' का आशय रियासतों के राजाओं एवं उत्तराधिकारियों को भारत में विलय करने के बदले पेंशन भत्ता तथा अन्य लाभकारी सुविधाएँ देने से संबंधित है। पंडित नेहरू इन राजाओं से अपेक्षा किए थे कि देश के विकास में अपने पेंशन का 15 प्रतिशत भाग अदा करें जो कि यह राजाओं को पसंद नही था । इसीलिए समाजवाद के संदर्भ में तत्कालीन कांग्रेस की सरकार 'प्रिविपर्स' की व्यवस्था को समाप्त करने हेतु अध्यादेश जारी किया। इसे सर्वोच्च न्यायालय में एच. एच **महाराजाधिराज माधव राव जीवाजी राव सिंधिया बहादुर और अन्य बनाम भारत संघ मामले**[44] में चुनौती दी गई थी। न्यायालय ने निर्णय दिया था कि सरकार अप्रत्यक्ष रूप में उन कार्यो को नही कर सकती है जो कि वह प्रत्यक्ष रूप में कर सकती है। किसी भी व्यक्ति को शासक के रूप में मान्यता देने या उसे समाप्त करने में राष्ट्रपति राजनीतिक शक्ति का प्रयोग नही कर सकते है। इसे अनुच्छेद 32 के तहत न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। अतः यह अध्यादेश असंवैधानिक है। लेकिन 25वाँ संविधान संशोधन के तहत कांग्रेस की सरकार ने **प्रिविपर्स** की व्यवस्था को समाप्त कर दिया। **मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ मामले**[45] में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद – 368(4) को खारिज कर दिया था। क्योंकि 42वें संविधान

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

संशोधन के तहत न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को छिन लिया था। न्यायालय ने कहा कि न्यायिक पुनरावलोकन संविधान का आधारभूत लक्षण है।

(9) न्यायाधीशों की स्थानांतरण एवं नियुक्ति और न्यायिक निर्णय – संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत घोषित राष्ट्रीय आपातकाल (1975–1977) के दौरान तत्कालीन इंदिरा गाँधी की सरकार ने मनमाने और संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत निरंकुशतापूर्वक कार्यकारी आधिपत्य को बनाए रखने पर बल दिया। इस आपातकाल में प्रेस की स्वतंत्रता का निलंबन, निवारक निरोध कानून का कठोरतापूर्वक पालन, जबरन नसबन्दी आदि निरकुंश कार्य किए गए। सरकार ने इसे विधि व्यवस्था एवं लोकतंत्र के लिए उचित बताया। इस आपातकाल के विरूद्ध देश का एक मात्र इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जगमोहन लाल सिन्हा ने प्रतिक्रिया दी और अन्य उच्च न्यायालयों ने इसका समर्थन किया। परिणामस्वरूप इंदिरा गाँधी की सरकार ने दण्डात्मक प्रतिक्रिया के रूप में न्यायाधीशों का स्थानांतरण करना आरंभ किया। इसे **सकलचन्द हिम्मतलाल सेठ बनाम भारत संघ मामले**[46] में चुनौती दी गई थी। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं स्थानांतरण में भारत के मुख्य न्यायाधीश का परामर्श आवश्यक है। मनमाने तरीके से न्यायाधीशों का स्थानांतरण उनकी स्वतंत्रता के लिए घातक है। आपातकाल (1975) में अनुच्छेद 21 में निहित व्यैक्तिक स्वतंत्रता का उल्लंघन किया गया था। इसे **शिवकांत शुक्ला बनाम ए.डी.एम., जबलपुर मामले**[47] में चुनौती दी गई थी। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि अनुच्छेद 21 व्यक्ति स्वतंत्रता का एक मात्र स्रोत है। इसे सामान्य काल एवं आपातकाल दोनों में किसी भी समय समाप्त नही किया जा सकता है।

ध्यान देने की बात है कि कांग्रेस की सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति में भी वरिष्ठता का उल्लंघन किया। न्यायाधीश अजीत नाथ रे की नियुक्ति में वरिष्ठता का उल्लंघन किया गया था। परिणामस्वरूप न्यायाधीश श्री शैलेट, श्री हेगडे एवं श्री ग्रोवर ने इस्तिफा दे दिया था। इसी प्रकार न्यायाधीश एम. एच. बेग की नियुक्ति करने के बाद न्यायाधीश एच. आर. खन्ना ने इस्तिफा दे दिया था।[48]

(10.) जनहित याचिकाएँ एवं मानवाधिकार और न्यायिक निर्णय – जनहित याचिकाओं का सरोकार सामान्य हित या सार्वजनिक हित के मामलों से होता है। सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय में क्रमशः अनुच्छेद 32 एवं 226 के तहत जनहित याचिकाएँ दायर की जा सकती है। पीड़ित व्यक्ति स्वयं या उसकी ओर से कोई भी व्यक्ति, जो लोकहित में अपनी भावना रखता है, न्यायालय में जनहित याचिका दायर कर सकता है। न्यायालय स्वयं संज्ञान (Suo-Motu) ले सकता है और सुनवाई के अधिकार (Locus-Standi) के अधिकार में लचीलापन ला सकता है। भारत में अमेरिका की भांति जनहित याचिकाओं के आरंभ का श्रेय सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश कृष्णा अय्यर और पी.एन. भगवती को है। सर्वोच्च

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

न्यायालय की अधिवक्ता श्रीमती कपिला हिंगोरानी ने सर्वप्रथम सर्वोच्च न्यायालय में मानवाधिकार संबंधी जनहित याचिका दायर की थी। यह याचिका **हुसैन आरा खातुन बनाम गृह सचिव, बिहार सरकार मामले**[50] थी। जिसमें बिहार के विभिन्न जेलों में बंद विचाराधीन कैदियों को रिहाई के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने आदेश जारी किया था। इसी प्रकार **सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन मामले**[51] में सर्वोच्च न्यायालय में दिल्ली के तिहाड़ जेल में कैदियों के साथ होनेवाले अमानवीय अत्याचार पर रोक लगाने हेतु निर्णय दिया था। इस प्रकार न्यायालय ने मानवधिकार की न्यायशास्त्र (Jurisprudence) की अवधारणा का सूत्रपात किया था। न्यायालय ने कई मामलों में संविधान के अनुच्छेद 21 में निहित मानवाधिकारों की इतनी विस्तृत व्याख्या की है कि इसका स्पष्ट उल्लेख संविधान में नहीं है।

(11.) समान नागरिक संहिता (UCC) और न्यायिक निर्णय –संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत में प्रत्येक व्यक्ति कानूनी दृष्टिकोण से एक समान है। इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को सकारात्मक भेदभाव के साथ एक समान संरक्षण प्रदान की जा सकती है। ऐसे में प्रत्येक व्यक्ति (स्त्री एवं पुरूष) के लिए एक समान कानून होना अपरिहार्य है । संविधान अनुच्छेद 44 में राज्यों को समान नागरिक संहिता बनाने हेतु निर्देश दिए गए हैं। फिर भी समान नागरिक संहिता का क्रियान्वयन एक सपना बन गया है। भारत नें रूढ़ीवादी एवं कट्टरपंथी समुदाय इसका विरोध करते रहे हैं। **मोहम्मद अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम मामले, सरला मुदगल बनाम भारत संघ मामले, लिली थॉमस बनाम भारत संघ मामले** में सर्वोच्च न्यायालय ने लैंगिक समानता एवं न्याय के संदर्भ में समान नागरिक संहिता की आवश्यकता बतायी थी। इसे देश में एकता, अखण्डता, समानता, स्वतंत्रता इत्यादि के लिए आवश्यक माना था।

विगत वर्षों (2017) में सर्वोच्च न्यायालय ने शायरा बानो बनाम भारत सरकार मामले में तीन तलाक, हलाला और समलैंगिकता जैसे मामलों में अपने निर्णयों में लैंगिक न्याय को अपनाने पर बल दिया। इसके अलावे सर्वोच्च न्यायालय ने अयोध्या राम जन्म भूमि विवाद जैसे मामले में निर्णय देकर अपनी सक्रिय भूमिका को प्रकट किया है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने उपरोक्त मामलों में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्णय देकर नवीन दृष्टिकोणों एवं सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जो कि यह न्यायालय की सक्रियता के स्वरूप को प्रकट करती है ।

निष्कर्ष :–

उपरोक्त तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि न्यायिक सक्रियता बहुव्यापक अवधारणा है। इसके विषय क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हैं। न्यायिक सक्रियता का उद्‌भव सर्वप्रथम अमेरिका में हुआ और भारत में न्यायिक सक्रियता की अवधारणा अमेरिका से प्ररित है। हालांकि भारत के संविधान में न्यायिक सक्रियता का उल्लेख नहीं हैं। लेकिन इसका अध्ययन सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न मामलों

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

में दिए गए निर्णयों में किया जा सकता है। न्यायिक सक्रियता न्यायाधीशों द्वारा प्रतिपादित दृष्टिकोण है। न्यायिक सक्रियता के अंतर्गत लोकतंत्र, विधि का शासन, संविधान की सर्वोच्चता, मूल अधिकार एवं मानवाधिकार का संरक्षण, लैंगिक समानता, भ्रष्टाचार, राजनीति, लोकनीति, प्रशासन, पर्यावरण संरक्षण जैसे अनेक विषय शामिल हैं। विगत वर्षो में देश की न्यायिक व्यवस्था में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। लोक अदालत, परिवार एवं कुटुम्ब न्यायालय, तीव्रगामी न्यायालय, निःशुल्क विधिक सहायता, ई–कोर्ट प्रणाली जैसी व्यवस्था भारत की बदलते न्यायिक व्यवस्था की पहचान है। लेकिन बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज भी देश के न्यायालयों में अनगिनत मामले पड़े हुए है जिसका शीघ्र निष्पादन नही हो पाता है । आज भी समाज के पिछड़े एवं कमजोर वर्ग न्याय पाने से वंचित है। न्यायिक प्रक्रिया में बहुत अधिक समय, धन एवं श्रम का व्यय होता है। देश में प्रभावशाली व्यक्तियों के लिए रात्रि के 12:00 बजे भी न्यायालय का दरवाजा खोला जाता है, लेकिन आम आदमी आज भी उनसे वंचित है। अतः आम आदमी, वंचित, शोषित और पीड़ित वर्ग को न्याय देने हेतु सरकार और न्यायालय को परस्पर समन्वय स्थापित करके कार्य करना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. काश्यप, सुभाष (2004), हमारा संविधान, नई दिल्ली : एन०बी०टी० पृ.सं० 42

2. उपरोक्त पृ.सं० 42

3. Bhagwan,Vishnoo & Vidyabhushan (2007), World Constitution : A comparative study, New Delhi Sterling Publication Pvt. Ltd. Pg. No. 211

4. Sathe, S.P (2002), Judicial Activism in India : Transgressing Borders and Enforcing Limits, New Delhi : Oxford University Press. Pg. No. 33

5. Ibid Pg. No 34

6. Manindranath, Dr. Deka Swapna, (2015), Judicial Activism, Post Emergency Era, Chennai : Nationa Press, Pg. No. 3

7. Ahmadi, A. M. (1996), Judical Process : Social Legitimancy and Institutional Viability. (Journal) Pg. No 6

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

8. Mehraj-ud-din-mir (2007), Judicial Activism : An overview, Kashmir University Law Review. Pg. No. 10

9. Verma, J. S. (2008), Rule of Law and Inter State Relation, New Delhi, Oxford University Press. Pg. No 92

10. Sathe, S.P (2002), Judicial Activism in India : Transgressing Borders and Enforcing Limits, New Delhi : Oxford University Press. Pg. No. 34

11. Baxi, Upendra on the shame of not Being an Activist : Thoughts on Judicial Activism, Indian Bar Review (IBR). Pg. No. 156

12. Monika (2006), Judicial Activism - A means for attaining good Governance. New Delhi, Nyaya Deep, NALSA. Pg. No. 48

13. Baxi, Upendra on the shame of not Being an Activist : Thoughts on Judicial Activism, Indian Bar Review (IBR). Pg. No. 263

14. Ibid Page 264

15. Wikipedia, Merriam Webster Dictionary of Law 1999.

16. Manindranath, Dr. Deka Swapna, (2015), Judicial Activism, Post Emergency Era, Chennai : Nationa Press, Pg. No. 49

17. Ibid Page 50

18. Bhagwan,Vishnoo & Vidyabhushan (2007), World Constitution : A comparative study, New Delhi Sterling Publication Pvt. Ltd. Pg. No. 188

19. Ibid Page 57

20. Ibid Page 23

अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका
Peer Reviewed Refereed शोध पत्रिका

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

21. Ibid Page 23

22. Ibid Page 294

23. Ibid Page 332

24. Ibid Page 266

25. काश्यप, सुभाष (2004), हमारा संविधान, नई दिल्ली : एन०बी०टी० पृ.सं० 193.

26. उपरोक्त पृ. सं० 203

27. Manindranath, Dr. Deka Swapna, (2015), Judicial Activism, Post Emergency Era, Chennai : Nationa Press, Pg. No. 63

28. AIR 1962 SC 305

29. AIR 1963 SC 649

30. AIR 1993 SC 477

31. AIR 1950 SC 21

32. AIR 1963 SC 1295

33. AIR 1964 SC 381

34. AIR 1962 SC 933

35. AIR 1952 SC 252

36. AIR 1963 SC 1241

37. बसु, डी०डी० (2006). भारत का संविधान : एक परिचय, नई दिल्ली : वाधवा एण्ड कम्पनी, पृ० 51

38. AIR 1951 SC 458

39. AIR 1965 SC 845

ISSN: 2348–2605 Impact Factor: 7.789 Volume 13-Issue 03, (July-Sep 2025)

40. AIR 1967 SC 1643

41. AIR 1973 SC 1461

42. कश्यप, सुभाष (2004), हमारा संविधान, नई दिल्ली : एन०बी०टी० पृ.सं० 264.

43. AIR 1970 SC 564

44. AIR 1971 SC 530

45. AIR 1980 SC 1789

46. AIR 1977 SC 2328

47. AIR 1976 SC 1207

48. कश्यप, सुभाष (2004), हमारा संविधान, नई दिल्ली : एन०बी०टी० पृ.सं० 193.

49. Narayan, P.S. (Justice)&Naik, M.B. (Justice) (2008) Public Interest Litigation, Hydrabad, Asia Law House, Page 40,121

50. AIR 1979 SC 13600

51. AIR 1978 SC 1675

52. Manindranath, Dr. Deka Swapna, (2015), Judicial Activism, Post Emergency Era, Chennai : Nationa Press, Pg. No. 63.